



# International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2016; 2(4): 110-112

© 2023 IJSR

[www.anantaajournal.com](http://www.anantaajournal.com)

Received: 13-05-2016

Accepted: 18-06-2016

**शालिनी सक्सेना**

राजकीय आचार्य संस्कृत  
महाविद्यालय, मनोहरपुर, जयपुर,  
राजस्थान, भारत

## भारतीय दर्शन में आत्मा कर्मसिद्धान्त एवं पुनर्जन्म

**शालिनी सक्सेना**

**सारांश**

भारतीय दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन हैं। अधिकांश दर्शन आत्मा की नित्यता के साथ पुनर्जन्म एवं कर्मसिद्धान्त को मान्यता देते हैं। कर्मसिद्धान्त के साथ कार्यकारण सिद्धान्त की अवधारणा भी विद्यमान है कोई भी कार्य बिना कारण नहीं होता। इस जीवन का आधार हमारे पूर्वजन्म में किए कर्म हैं और अगले जन्म का आधार हमारे इस जन्म के किए गए कर्म, पाप और पुण्य हैं। इसीलिए जीवमात्र को सत्कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। भारतीय दर्शन में विद्यमान कर्म, आत्मा एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त का अन्योन्याश्रय भाव सिद्ध करना इस शोधालेख का उद्देश्य है।

**कूटशब्द** : आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म, अपूर्व।

**प्रस्तावना**

भारतीय दर्शन आत्मवादी दर्शन कहे जाते हैं। सभी आस्तिक दर्शन आत्मा के अस्तित्व को न केवल स्वीकार करते हैं, अपितु उसे अजर, अमर, सर्वव्यापक, नित्य भी मानते हैं। सभी दर्शनों ने आत्मा को अलग अलग नामों से सम्बोधित किया है। श्रीमद्भगवद्गीता जहाँ आत्मा को अजर अमर अविनाशी मानती है वहीं शरीर को अनित्य नश्वर सिद्ध करती है। प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा नित्य है और शरीर के विनाश के बाद भी विद्यमान रहती है तो उसका स्थान कहाँ है? या वो किस रूप में विद्यमान रहती है। आत्मा की नित्यता के सिद्धान्त ने ही पुनर्जन्म के सिद्धान्त को दृढ़ता प्रदान की है और पुनर्जन्म के सिद्धान्त की भित्ति कर्मवाद के सिद्धान्त पर आधारित है। सम्पूर्ण सृष्टि कर्मवाद के सिद्धान्त पर अवलम्बित है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार कर्म की शक्ति कभी समाप्त नहीं होती और वह अपूर्व के रूप में आत्मा के साथ जाती है और ये अपूर्व ही पुनर्जन्म का कारण बनते हैं। कर्म से उत्पन्न होने वाली शक्ति अथवा ऊर्जा कभी नष्ट नहीं होती वह किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। वह चाहें अपूर्व हो या कुछ और। ये कर्मशक्ति ही पुनर्जन्म का हेतु बनती है। जो शक्ति आज किसी नाम से जानी जाती है व नामरूप के नष्ट होने पर दूसरे नाम से प्रकट हो जाती है। कर्म का फल अवश्य ही मिलता है। यथा—

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदेरे।

तान्येव प्रतिपाद्यन्ते सृत्यमानाः पुनः पुनः।<sup>1</sup>

भारतीय दर्शन में स्थान स्थान पर प्रतिपादित है कि कर्म ही सृष्टि का मूल है:—

निमित्तमात्रमेवासौ सृत्यानां सर्गकर्मणि।

प्रधानकारणीभूता यवो वे सृत्यशक्तः।<sup>2</sup>

इस नश्वर सृष्टि में ईश्वर तो निमित्त कारण है सृज्यमान जीव की शक्ति ही सृष्टि का उपादान कारण बनती है। गीता के अनुसार कर्म अनादि हैं और जीव कर्म से ही बन्धन में पड़ता है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही जीव कर्मबन्धन से आबद्ध है। यह अनादि कर्मबन्ध माया, अज्ञान, प्रकृति आदि नाना रूपों से सम्बोधित किया गया है। जिस प्रकार बछड़ा अपनी माँ गो को ढूँढ़ लेता है वैसे ही पूर्व जन्म में किए गए कर्म कर्ता को ढूँढ़ लेते हैं।<sup>3</sup> कर्म और जीव में पूर्वापर को सिद्ध करना बीज एवं अंकुर के पूर्वापर को सिद्ध करने के समान कठिन है। यथा—

न कर्माविभागात् इति येन न अनादित्वात्।<sup>4</sup>

**Corresponding Author:**

**शालिनी सक्सेना**

राजकीय आचार्य संस्कृत  
महाविद्यालय, मनोहरपुर, जयपुर,  
राजस्थान, भारत

पुनर्जन्म की उद्भावना को पुष्ट करने के लिए कर्म के तीन भेद माने गए हैं—1. संचित 2. प्रारब्ध 3. क्रियमाण। इनमें संचित कर्म वे हैं जो पूर्वजन्म में किए गए कर्म से उत्पन्न होते हैं और जिनके फल का प्रारम्भ नहीं हुआ है।

प्रारब्ध कर्म वे हैं जो पूर्व जन्म के कर्म से उत्पन्न हैं और इस जन्म में जिनका फलभोग प्रारम्भ हो चुका है। क्रियमाण कर्म वे हैं जो वर्तमान जीवन में किए जा रहे हैं और जो अगले जन्म में भोग के लिए संचित हो रहे हैं।

कर्म फलों के भोग से ही उनका क्षय होता है। बिना कर्म के अव्यक्त प्रकृति व्यक्त नहीं हो सकती। कुछ कर्मफलों का भोग इसी जन्म में तो कुछ कर्मफलों का भोग भविष्य में प्राप्त होने वाले शरीर के साथ करना होता है। उत्कट पाप और पुण्य का फल इसी जीवन में भोगना पड़ता है। धर्माधर्म के दृष्ट फल इस जन्म में अदृष्ट फल अगले जन्म में प्रकाशित होते हैं। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार पूर्वजन्म में किए गए कर्मों के आधार पर इस जन्म में फल अवश्य प्राप्त होते हैं। यही कर्मसिद्धान्त है। एक जन्म के कार्य से अगले जन्म की पारिपार्श्विक अवस्था नियमित होती है।

जीवात्मा की तीन शक्तियाँ हैं— इच्छा, ज्ञान और क्रिया। काम ही इच्छा शक्ति के मूल में होता है। ज्ञानशक्ति का प्रकाशन चिन्तन से तो क्रियाशक्ति का प्रकाशन कर्म से होता है। जीव अपनी कामना के अनुरूप चिन्तन करता है और तदनुरूप कर्म करता है। इस तरह एक जन्म की कामना, चिन्तन एवं कार्य द्वारा अगला जन्म नियमित होता है। इच्छा जीव को ईप्सित वस्तु के साथ संयुक्त करती है। स ईयते मृतो यत्र कामम्। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है:—

कामान् यः कामयते मन्यमानः, सकामभिजायते तत्र तत्र।<sup>5</sup>

जिसका मन जिसमें आसक्त है, कर्म उसे वहीं ले जाते हैं। श्रीमद्भगवद् गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।  
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभाविताः॥

बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त कर्मवाद पर आधारित है। उसके अनुसार किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति होती है। — अस्मिन् सति इदमतति। जीव का वर्तमान जीवन अतीत के कर्मों पर आधारित है तथा वर्तमान का प्रभाव भावी जीवन पर अवश्य पड़ता है। किए गए कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। भोग के उपरान्त ही उनसे छूटकारा सम्भव है बुद्ध को निर्वाण प्राप्ति के बाद भी कर्मफल भोग के लिए ही जीवन व्यतीत करना पड़ा।

वेदान्त के जीवन्मुक्त की परिकल्पना भी कर्मफल भोग को दृष्टि में रखकर ही की गई। मोक्ष प्राप्ति के बाद भी मुक्त जीव जीवित रहता है और कर्मफल के भोग के उपरान्त ही उसकी विदेह मुक्ति कही गई है। मुक्त जीव एवं बद्ध जीव के कर्म में सिर्फ यही भेद है कि मोक्ष उपरान्त किए गए मुक्त जीव के कर्म फल नहीं प्रदान करते जैसे भूना हुआ चना अंकुरित नहीं होता। जबकि बद्ध जीव के कर्म संचित होते हैं और भावी जीवन में उनका भोग करना पड़ता है।

जैन दर्शन के अनुसार भी जीव अपने कर्मवश ही विभिन्न प्रकार के कष्ट झेलता है। जीव अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य एवं आनन्द सम्पन्न होता है। कर्मजनित बाधाओं के कारण ये जीव अभिभूत हो जाते हैं। पूर्वजन्म के कर्म के कारण ही जीव में वासनाओं की उत्पत्ति होती है और जीव को शरीर धारण करना पड़ता है। जैन दर्शन के अनुसार कर्म को दो भागों में बांटा गया है— घातीय तथा अघातीय। घातीय कर्म चार प्रकार के हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म, अन्तराय कर्म, मोहनीय कर्म। अघातीय कर्म भी चार प्रकार के हैं— आयुष कर्म, नामकर्म, गोत्र कर्म, वेदनीय कर्म।

ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानेन्द्रिय के ज्ञानों का अवरोध करते हैं। दर्शनावरणीय कर्मपदार्थों के प्रत्यक्ष का अवरोध कर निद्रा को उत्पन्न करते हैं। अन्तराय कर्म जीव की सहज शक्ति का अवरोध कर उसे शुभ कर्म करने से रोकते हैं। मोहनीय कर्म सम्यक् विश्वास एवं सम्यक् चरित्र का अवरोध करते हैं। आयुष कर्म नरक, स्वर्ग आयु तथा स्वर्ग नरक में रहने के काल को निश्चित करते हैं। नामकर्म जीव की पशु, मनुष्य आदि योनि निर्धारित करते हैं। गोत्र कर्म जीव का कुल एवं वंश निर्धारित करते हैं। वेदनीय कर्म सुख दुःख की अनुभूतियों के कारण होते हैं।

समष्टिरूप में कर्म समस्त वासनाओं का समूह है जिसका फल समस्त धर्म से विशिष्ट शरीर होता है। व्यष्टि रूप में शरीर का पृथक् पृथक् धर्म पृथक् पृथक् कर्म के कारण है।

न्यायवैशेषिक दर्शन भी कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करता है और जगत् की रचना का आधार कर्म को मानता है।<sup>6</sup> इस वैविध्यपूर्ण जगत् की व्याख्या कार्यकारण सिद्धान्त अथवा कर्मसिद्धान्त के आधार पर ही सम्भव है। कुछ कर्मों का फल इसी जीवन में तो कुछ का फल अगले जन्म में प्राप्त होता है। कर्मानुसार ही जीव को शरीर धारण करना पड़ता है। गौतम के अनुसार—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः।<sup>7</sup>

न्याय दर्शन अनुसार कर्मों का फल स्थान, काल और अनुकूल परिस्थिति पर निर्भर करता है। यही कारण है कि कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका फल इसी जन्म में तो कुछ का भावी जन्म में प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि जीवात्मा कर्म नियम के अधीन है। मोक्ष प्राप्ति के बाद ही जीवात्मा कर्मनियम से मुक्ति पा सकता है।<sup>8</sup>

सांख्यदर्शन दो तत्त्व स्वीकार करता है प्रकृति एवं पुरुष। पुरुष द्रष्टा एवं साक्षी है अपरिणामी है। जितने भी विकार हैं वे प्रकृति के धर्म हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख, ज्ञान, धर्म, अधर्म और संस्कार पुरुष का लक्षण नहीं हैं। पुरुष अज्ञानवश अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है और इन सब धर्मों को अपना धर्म समझ बैठता है। वह स्वयं को कर्ता तथा भोक्ता मानने लगता है। वस्तुतः पुरुष का कर्तृत्व भ्रम मात्र है।<sup>9</sup>

योग दर्शन कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करता है और उसके अनुसार कर्म का भोग जीव को करना होता है। चित्त पर पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है यही अवस्था जीव की अवस्था है। सांसारिक जीवों को अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश आदि के कारण नाना प्रकार के दुःख भोगना पड़ता है। कर्म फल पुरुष को नहीं जीव को मिलता है। कैवल्य प्राप्ति के बाद जीव के कष्ट दूर होते हैं।

मीमांसादर्शन में कर्मवाद का विशद वर्णन हुआ है। वैदिक दर्शन होने के कारण उनके अनुसार कर्मवाद के तीन सिद्धान्त हैं:— 1. आत्मा के अस्तित्व में विश्वास जो मृत्यु के बाद भी विद्यमान रहती है तथा स्वर्ग में कर्मफल भोग करती है। 2. कोई ऐसी शक्ति है जो कर्मों के फलों को सुरक्षित रखती है। और 3. यह जगत् सत्य है हमारा जीवन और कर्म स्वल्प है। मीमांसा के अनुसार कर्म के फल का नाश नहीं होता। इस जीवन में किया गया कर्म अदृष्ट शक्ति को उत्पन्न करता है जिसे अपूर्व कहते हैं। किए गए कर्मों का फल निश्चित है जो अपूर्व के कारण समय पाकर प्रकट होता है। अपने कृत कर्मों के आधार पर ही आत्मा को शरीर मिलता है।<sup>10</sup> कुमारिल भी कर्मवाद को स्वीकार करते हैं। आत्मा को अपने पूर्वजन्म के कर्मों से अर्जित धर्माधर्म के अनुसार शरीर मिलता है और जब धर्माधर्म का क्षय हो जाता है तब नया शरीर नहीं मिलता और आत्मा का मोक्ष हो जाता है।<sup>11</sup>

शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान और कर्म परस्पर विरोधी हैं। वे प्रारब्ध कर्मों को स्वीकार कर ही कहते हैं कि विदेह मुक्ति से पूर्व जीवात्मा का शरीर कायम रहता है, जब तक शरीर रहेगा। कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती है। उन्होंने भी संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण भेद से तीन प्रकार के कर्म माने हैं। उनके अनुसार कर्मबन्धन का आधार

आसक्ति है। अनासक्त भाव से किए गए कर्म फल को उत्पन्न नहीं करते। इसी कारण जीवन्मुक्त द्वारा किए गए कर्म फल भोग का हेतु नहीं बनते हैं।

इस प्रकार सभी दर्शन कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करते हैं चाहे कर्मसिद्धान्त की व्याख्या वे अपने अपने दर्शन के अनुकूल करते हैं और जो दर्शन कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करते हैं वे पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी स्वीकार करते हैं। सभी अध्यात्मवादी दर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मान्यता देते हैं। उनके अनुसार मृत्यु ही जीवन का अन्त नहीं है बल्कि मृत्यु के बाद भी जीव का अस्तित्व रहता है। जीव मृत्यु के बाद दूसरा शरीर ग्रहण करता है। गीता के आत्मा विषयक वर्णन को देखें तो आत्मा अजन्मा अमरणधर्मा है। एक बार होकर फिर नहीं होता। शरीर का वध होने पर भी यह नहीं मरता। इसे शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकती, पानी भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती।<sup>12</sup> इससे स्पष्ट है कि मृत्यु के उपरान्त भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। किसी भी स्थिति में इसका विनाश नहीं होता। यह एक शरीर त्याग कर दूसरा नवीन शरीर धारण करता है। पुनर्जन्म का अर्थ है आत्मा का एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करना। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार:—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।  
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।<sup>13</sup>

यदि पूर्वजन्म को न माना जाए तो मनुष्य का यह जीवन आकस्मिक एवं अकारण मानना पड़ेगा। और गीता में स्पष्ट कहा गया है कि जो नहीं है वह हो नहीं सकता और जो है उसका अभाव नहीं होता।<sup>14</sup> तत्त्वज्ञानी जन दोनों के भेद के आधार पर उनके स्वरूप का निर्णय करते हैं। मृत्यु ही जीवन का अन्त नहीं है। मृत्यु स्थूल शरीर का नाश है लिंग शरीर का नहीं। लिंग शरीर ही नवीन शरीर धारण करने का हेतु है।

सांख्य दर्शन भी कहता है कि वैदिक कर्म स्वर्ग नरक के हेतु हैं उनसे स्थायी दुःखनिवृत्ति नहीं होती पुण्य क्षय होने पर जीव को पुनः सांसारिक बन्धन में बंधना होता है। वेदान्त के अनुसार “अहं ब्रह्मास्मि” की स्थिति के बाद ही पुनर्जन्म से छूटकारा मिल सकता है। मोक्ष प्राप्ति के बाद जीव को पुनः शरीर धारण नहीं करना पड़ता। जीवात्मा अज्ञानवश अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है और इस कारण उसे बार बार जन्म मरण के चक्र में बंधना पड़ता है। बृहदारण्यक उपनिषद् ने जोंक का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार जोंक घास के तिनके के छोर तक पहुँचने पर दूसरे तिनके पर अपने शरीर का अग्रभाग रखती है और फिर पहले तिनके से अपने शरीर के अन्तिम भाग को खींच लेती है उसी प्रकार आत्मा एक शरीर छोड़कर दूसरा धारण करती है।

इस प्रकार पुनर्जन्म की अवधारणा को सिद्ध करने एवं वर्तमान जीवन का उद्देश्य स्पष्ट करने के लिए आत्मा की नित्यता को स्वीकार करना होगा। आत्मा की नित्यता स्वीकार करने पर पुनर्जन्म को स्वीकार करना होगा और पुनर्जन्म का हेतु कर्म है अतः कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करना होगा। इससे यह स्पष्ट है कि आत्मा की नित्यता, पुनर्जन्म एवं कर्मसिद्धान्त अन्योन्याश्रित हैं।

### सन्दर्भ

1. महाभारतशान्तिपर्व 231/161
2. रामानुजाचार्य
3. महाभारतशान्तिपर्व 181/161
4. ब्रह्मसूत्र
5. मुण्डकोपनिषद् 3/2/21
6. न्यायमंजरी 196-200
7. न्यासूत्र 3/2/63
8. न्यायकृमुमांजलि, 139
9. सांख्यसूत्र वृत्ति/591,1/981,6/631

10. प्रभाकरमत
11. श्लोवात्तिक आत्मवाद-74-75,173
12. श्रीमद्भगवद्गीता 2/20, 23, 24
13. श्रीमद्भगवद्गीता 2/22
14. श्रीमद्भगवद्गीता 2/16